शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

फरवरी : १९५८ ☆ वर्ष तेरहवाँ, माघ वी० नि० २४८४ ☆ अंक : १०

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

दुनियां की अपेक्षा आत्मा को संतुष्ट करो!

जिससे दुनियां संतुष्ट हो और जो दुनियाँ की रुचि के अनुकूल हो—ऐसा तो जगत के जीवों ने अनंतबार किया है; किन्तु मैं आत्मा वास्तविक रीति से संतुष्ट होऊँ तथा मेरे आत्मा को सचमुच क्या पसंद है—इसका कभी विचार तक नहीं किया, उसकी कभी परवाह नहीं की। किन्तु जिसे सचमुच आत्मा को ही संतुष्ट करने की आकांक्षा जागृत हुई है, वह आत्मा को संतुष्ट करके ही रहेगा और उसे संतुष्ट होना ही पड़ेगा अर्थात् आनन्दधाम में पहुँचना ही होगा... भाई! पराश्रय से लाभ मानने की श्रद्धा छोड़-पर का आश्रय छोड़कर स्वतत्त्व की रुचि करना... प्रेम करना... मनन करना ही सत्स्वभाव को प्रगट करने का उपाय है... जिसे अपना हित करना हो, उसे यह करना चाहिये।

[—पूज्य बहिन श्री बहिन लिखित समयसार-प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१५४]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ सौराष्ट्र

श्री सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित

जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्रथम भाग

का द्वितीय संस्करण

पाठकों की विशेष मांग के कारण जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्रथम भाग का प्रथम संस्करण शीघ्र ही शेष हो गया था, जिसका द्वितीय संस्करण छपने के लिये प्रेस में दे दिया गया है। १५ दिन में छप कर तैयार हो जावेगा। इच्छुक सज्जन शीघ्र ही प्राप्त कर सकेंगे। इसके तीनों भाग मनन करने योग्य हैं।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला भाग ३

जैन धर्म का तात्त्विक हार्द समझने के लिये अवश्य स्वाध्याय करें

जिसमें प्रमाण, नय, (नयाभास) निक्षेप, अनेकान्त और स्याद्वाद का स्पष्ट अर्थ—सविस्तार शास्त्रोक्त आधार से दिये हैं, और पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म का स्वरूप, पुरुषार्थ तथा मोक्षमार्ग की चर्चा और गुणस्थान क्रम का वर्णन तथा विचारवान जीव शंका समाधान द्वारा यथार्थरूप में तत्त्व निर्णय कर सके ऐसी स्पष्ट शैली है। मूल्य ६३ नये पैसे

लागत से अर्ध मूल्य में

समयसार प्रवचन भाग तीसरा ४॥) वाला

भेदविज्ञानसार २) वाला

फागण सुदी २ तक अर्ध मूल्य में मिलेगा

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पोस्टेज आदि अलग सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

फरवरी : १९५८ ☆ वर्ष तेरहवाँ, माघ वी० नि० २४८४ ☆ अंक : १०

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[२४]

नियतप्रदेशत्व-शक्ति

[क्रमशः गतांक १५३ से चालू]

आत्मा में अनंत शक्तियाँ होने पर भी वह ज्ञानमात्र है; ज्ञानभाव में सब समावेश हो जाता है; अर्थात् ज्ञान ने अंतर्मुख स्वभाव के साथ एकता करके जहाँ आत्मस्वभाव को अनुभव में लिया, वहाँ आत्मा के अनुभव में अकेला ज्ञान ही नहीं है किन्तु आनन्द आदि अनंत शक्तियाँ भी निर्मल पर्यायसहित अनुभव में आती हैं। प्रत्येक शक्ति का भिन्न-भिन्न अनुभव नहीं है किन्तु अभेद आत्मा के अनुभव में अनंत शक्तियों का रस एकत्रित ही है। वह बतलाने के लिये यहाँ आचार्यदेव ने आत्मा की शक्तियों का अद्भुत वर्णन किया है। उनमें २४ वीं 'नियतप्रदेशत्वशक्ति' है। वह कैसी है ?—'आत्मा का निजक्षेत्र असंख्य प्रदेशी है; वह अनादि संसार से लेकर संकोच-विस्तार से लक्षित है और मोक्षदशा में वह चरमशरीर के परिमाण से किंचित् अल्प परिमाण में अवस्थित है;—ऐसा लोकाकाश के नाप जितना असंख्य आत्म-अवयवपना, वह नियतप्रदेशत्वशक्ति का लक्षण है।'—ऐसी भी एक शक्ति आत्मा में है।

बाह्य में यह जो नाक-कान आदि शरीर के अवयव हैं, वे तो जड़ हैं; वे कहीं आत्मा के

अवयव नहीं है। आत्मा तो अरूपी अवयववाला है और असंख्य प्रदेश ही उसके अवयव हैं। लोकाकाश के प्रदेशों की जितनी संख्या है, उतनी ही आत्मा के अवयवों की संख्या है; और वह प्रत्येक अवयव ज्ञान-आनन्दादि शक्तियों से परिपूर्ण है।

आत्मा के प्रदेश लोक जितने होने पर भी वह लोक में विस्तृत होकर विद्यमान नहीं है। केवलीसमुद्घात के समय मात्र एक समय ही उसके प्रदेश लोकव्यापकरूप से विस्तृत होते हैं, और वह समुद्रघात केवलज्ञानी को ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त संसारदशा में उस-उस शरीर के अनुसार आत्मा के प्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है। हाथी के विशाल शरीर में जो आत्मा विद्यमान हैं, उसके असंख्य प्रदेश उतने विस्तृत हुए हैं और चींटी के शरीर में जो आत्मा विद्यमान है, उसके असंख्य प्रदेश उतने संकुचित हुए हैं; तथापि असंख्य प्रदेश तो दोनों में समान ही हैं।

प्रश्न—जब विशाल शरीर में विस्तार को प्राप्त हो, तब जीव के प्रदेश बढ़ जायें और जब छोटे शरीर में संकोच को प्राप्त हो, तब जीव के प्रदेश कम हो जायें—ऐसा होता है या नहीं ?

उत्तर—नहीं; आत्मा के 'नियत असंख्य प्रदेश' हैं, वे तो त्रिकाल उतने ही रहते हैं; उनमें एक भी प्रदेश कम-अधिक नहीं होता। चाहे जितना विशाल आकार हो तो उससे एक भी प्रदेश बढ़ नहीं जाता, तथा चाहे जितना छोटा आकार हो तो एक भी प्रदेश कम नहीं हो जाता। छोटे या बड़े चाहे जिस आकार में एक समान असंख्य प्रदेश रहते हैं।

प्रश्न—तो फिर जब जीव का आकार संकुचित हो, तब उसके प्रदेश छोटे आकार के हो जायें और जब उसका आकार विकसित हो, तब प्रदेशों का आकार भी बढ़ जाये—ऐसा है ?

उत्तर—नहीं; प्रदेश अर्थात् सबसे अन्तिम अंश; वह कभी छोटा-बड़ा नहीं होता। कोई जीव पहले चींटी के शरीर में रहता था, तब उसका आकार संकुचित था और फिर वही जीव हाथी के शरीर में आने से उसका आकार विस्ताररूप हुआ, किन्तु उससे कहीं उस जीव के प्रदेश बड़े नहीं हो गये, प्रदेश तो ज्यों के त्यों ही हैं। उनकी संख्या भी ज्यों की त्यों है।

प्रश्न—यदि जीव के प्रदेशों की संख्या भी कम-अधिक नहीं होती और उसके प्रदेशों का नाप भी छोटा-बड़ा नहीं होता,—प्रदेश जितने हैं उतने ही, तथा जिस आकार के हैं, उसी आकार के रहते हैं तो जीव में संकोच-विस्तार कैसे होता है ?

उत्तर—प्रदेशों की उस प्रकार की हीनाधिक अवगाहना से संकोच-विस्तार होता है। लोक के असंख्य प्रदेश तथा एक जीव के असंख्य प्रदेश—वे दोनों संख्यारूप में समान हैं। लोक के

एक-एक के प्रदेशों में ज्यों-ज्यों जीव के अधिक प्रदेशों का अवगाहन होता है, त्यों-त्यों जीव के आकार का संकोच होता है और लोक के एक प्रदेश में ज्यों-ज्यों जीव के कम प्रदेश रहते हैं, त्यों-त्यों जीव के आकार का विकास होता है;—इसप्रकार संकोच-विस्तार होता है। उदाहरण के रूप में—जब जीव सारे लोक में अवगाही होकर रहता हो, तब लोक के एक-एक प्रदेश में जीव का एक-एक प्रदेश है; और जब वह अर्धलोक में व्याप्त होकर रहेगा, तब लोक के एक-एक प्रदेश में जीव के दो-दो प्रदेश होंगे; उसीप्रकार जब जीव लोक के असंख्यातवें भाग में व्याप्त होकर रहेगा तब लोक के एक-एक प्रदेश में जीव के 'असंख्यातवें भाग के असंख्य' प्रदेश रहेंगे। जीव के असंख्य प्रदेशों का नाप इतना बड़ा है कि उसे असंख्य से भाग देने पर भी असंख्य आता है* और जीव का अवगाहन स्वभाव भी ऐसा है कि वह चाहे जितना संकुचित हो, तथापि असंख्य प्रदेशों को तो वह रोकता है; संकुचित होकर संख्यात या एक ही प्रदेश में जीव के समस्त प्रदेश रह जायें - ऐसा संकोच उसमें कभी नहीं होता। सुई की नोक पर रह सकें, इतने से कन्दमूल के टुकड़े में भी औदारिक-असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं; उस प्रत्येक जीव ने भी असंख्य प्रदेश रोके हैं।

प्रश्न : सारे लोक के प्रदेश तो असंख्यात ही हैं और लोक में जीव अनंतानंत हैं, तो वे सब जीव लोक में किस तरह समाये हुए हैं ?

उत्तर : जीव का स्वभाव अमूर्त है; इसलिये जहाँ एक जीव विद्यमान है, वहीं दूसरे जीव के प्रदेश भी रह सकते हैं; और इसप्रकार भिन्न-भिन्न अनंत जीवों के अनंत प्रदेश एक प्रदेश में रह सकते हैं। एक ही जीव के पूरे असंख्य-प्रदेश एक प्रदेश में कभी नहीं रहते (क्योंकि जीव के प्रदेशों में ही उस प्रकार संकुचित होने का स्वभाव नहीं है); किन्तु भिन्न-भिन्न अनंत जीवों के अनंत प्रदेश लोकाकाश के एक ही प्रदेश में विद्यमान हैं। इसप्रकार लोक के असंख्य प्रदेशों में अनंतानंत जीवों का समावेश है। लोकाग्र में जहाँ एक सिद्ध भगवान है, वहीं दूसरे अनंत सिद्ध भगवान विराजमान हैं; तथापि प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं; प्रत्येक का अपना-अपना आनन्द पृथक् है, अपना-अपना ज्ञान पृथक है और अपने-अपने आत्मप्रदेश पृथक् हैं; इसप्रकार एक क्षेत्र में अनंत सिद्ध होने पर भी प्रत्येक का भिन्न-भिन्न अस्तित्व हैं। जिन अज्ञानियों को ऐसे स्वभाव की खबर नहीं है,

* 'असंख्य' के एक-दूसरे से बढ़कर नौ प्रकार हैं; उनमें से जीव के प्रदेशों का जो असंख्यपना है वह आठवें प्रकार का है; उसे—'मध्यम असंख्यात असंख्यात' कहा जाता है। उसका असंख्यातवाँ भाग भी असंख्य है।

उन्हें ऐसा भ्रम होता है कि—मुक्त जीव एक-दूसरे में इसप्रकार मिल गये हैं, जिसप्रकार ज्योति में ज्योति मिल जाती है; वहाँ जीव पृथक्-पृथक् नहीं है। किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि—जीव में नित्य असंख्य प्रदेश होनेरूप शक्ति है, इसलिये अपने स्वतंत्र असंख्य प्रदेशरूप से वह त्रिकालरूप नित्यस्थायी रहता है।

असंख्य प्रदेश ज्यों के त्यों रहकर संसारदशा में जीव की आकृति में संकोच-विकास होता रहता है; किन्तु मुक्ति होने के पश्चात् सिद्धदशा के पहले समय में जैसा आकार हो, वैसा आकार सदैव रहता है; फिर उसमें संकोच-विस्तार नहीं होता। यहाँ 'चरमशरीरी से किंचित् न्यून आकार में अवस्थित'—ऐसे असंख्य प्रदेशीपने को नियतप्रदेशत्वशक्ति का लक्षण कहा है। चरम शरीर तो मोक्षगामी को ही होता है; इसलिये मोक्षगामी जीव की बात ली है। जो जीव आत्मशक्ति की ओर उन्मुख हुआ है, वह अल्प काल में ही चरमशरीरी होकर अशरीरी सिद्ध हो जायेगा।

प्रश्न—सिद्धदशा में आकार होता है ?

उत्तर—हाँ; जीव के असंख्य प्रदेश हैं, उनका सिद्धदशा में भी आकार होता है।

प्रश्न—सिद्धदशा में जीव का कैसा आकार होता है ?

उत्तर—चरमशरीर से किंचित् न्यून अर्थात् मोक्षदशा से पूर्व का जो अंतिम शरीर था, उस शरीर के आकार से किंचित् अल्प नाप का आकार सिद्धदशा में होता है। यहाँ 'चरमशरीर से किंचित् न्यून' कहा है; उसके बदले चरमशरीर से तीसरे भाग का न्यून कुछ लोग मानते हैं, उनकी मान्यता ठीक नहीं है। शरीर के केश-नख आदि कुछ भागों में आत्म प्रदेश नहीं हैं—उन्हें छोड़कर किंचित् न्यून आकार कहलाता है।

समस्त सिद्ध भगवन्तों को ज्ञान एक-सा होता है, आनन्द एक-सा होता है, प्रभुता एक-सी होती है; आत्म प्रदेशों की संख्या भी एक-सी होती है; किन्तु सबका आकार एक-सा हो—ऐसा नियम नहीं है। यद्यपि अनंत सिद्ध समान आकारवाले भी हैं, तथापि समस्त सिद्धों का आकार एक-सा नहीं होता; किसी का आकार बड़ा होता है, किसी का छोटा। जैसे कि—बाहुबली भगवान पाँच सौ पच्चीस धनुष ऊँचे थे और महावीर भगवान सात हाथ ऊँचे थे, सिद्धदशा में भी उनका आकार तदनुसार भिन्न-भिन्न ही है।

प्रश्न—सिद्ध भगवान तो सभी समान होते हैं; तथापि वहाँ भी आकार में छोटा-बड़ापन ?

उत्तर—इससे तो यह मालूम होता है कि आकार की लघुता-दीर्घता के साथ ज्ञान-आनन्द

का नाप नहीं है। सवा पाँच सौ धनुष का दीर्घ आकार हो तो उसके ज्ञान-आनन्द अधिक और एक धनुष जितना आकार हो तो उसके ज्ञान-आनन्द कम-ऐसा नहीं है। प्रदेश तो दोनों के समान ही हैं। किसी जीव का आकार छोटा हो, तथापि बुद्धि अधिक होती है और किसी का आकार भारी भैंस जितना होने पर भी बुद्धि अल्प होती है; क्योंकि ज्ञानादि गुणों का कार्य पृथक् है और प्रदेशों के आकार की रचना का कार्य पृथक् है। अल्प अवगाहना हो तो उससे कहीं आत्मा की शक्तियाँ या प्रदेश कम नहीं हो जाते, और न आत्मा के परिपूर्ण ज्ञान, आनन्द अथवा प्रभुता में बाधा आती है; इसलिये मुक्तदशा होने पर आत्मा का आकार सर्वव्यापक हो जाए—ऐसा नहीं है।

जिसकी दृष्टि में आत्मा की स्वभावशक्ति की महिमा नहीं आई, उसकी दृष्टि बाह्य क्षेत्र पर गई, इसलिये बाह्य में क्षेत्र की विशालता से (सर्व व्यापकपने से) आत्मा की महिमा मानी, किन्तु इस शरीर प्रमाण मेरे आत्मा के असंख्य प्रदेशों में ही मेरी अनंत शक्ति से परिपूर्ण प्रभुता भरी है, उसका विश्वास नहीं आया; इसलिये जो आत्मा को शरीर प्रमाण न मानकर सर्वव्यापक मानता है, उसे आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है; वह मिथ्यादृष्टि है—ऐसा जानना।

अहो! आत्मा की एक-एक शक्ति के वर्णन में कितनी स्पष्टता भरी है। ऐसी निजशक्ति को पहचाने तो अंतर में भगवान आत्मा का प्रसिद्ध अनुभव हुए बिना न रहे।

आत्मा की शक्ति क्या है, उसके स्वभाव की प्रतीति करके उसके अनुभव में लीन होना, सो धर्म है। आत्मा असंख्य-चैतन्य प्रदेशों का पिण्ड है और उसमें ज्ञानादि अनंत गुण हैं। आत्मा में प्रदेशों की संख्या कम है और गुणों की संख्या अनंत है। प्रदेश की अपेक्षा से जो एक अंश है, वह अन्य स्थान पर नहीं है—ऐसे असंख्य अंशोंरूप आत्मा का स्वक्षेत्र है, आत्मा में अनंत गुण हैं; वह प्रत्येक गुण तो असंख्य प्रदेशों में व्याप्त होकर विद्यमान है, किन्तु आत्मा के असंख्य प्रदेशों में से एक प्रदेश समस्त प्रदेशों में व्याप्त नहीं होता। असंख्य प्रदेश सर्वत्र ज्ञान, आनन्द आदि अनंत शक्तियों से परिपूर्ण है,—एक स्थान पर ज्ञान और दूसरे स्थान पर आनन्द, इसप्रकार भिन्न-भिन्न क्षेत्र नहीं है; किन्तु प्रत्येक प्रदेश में सर्व गुण एक साथ विद्यमान हैं; इसलिये एक प्रदेश में सर्व गुण हैं किन्तु एक प्रदेश में सर्व प्रदेश नहीं हैं।

आत्मा संसारदशा में भी शरीर-मन-वाणी आदि का संकोच-विस्तार कर सकता है, यह बात तो सच है ही नहीं। हाँ, संसारदशा के समय आत्मा के प्रदेशों की पर्याय में संकोच-विकास है, किन्तु वह संकोच-विकास नित्य होता ही रहे - ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है; असंख्य प्रदेश

नित्य अनंत गुणों से भरे रहें—ऐसा स्वभाव है। सिद्धदशा होने पर आत्मा के असंख्य प्रदेश संकोच-विस्तार हुए बिना ज्यों के त्यों स्थिर रह जाते हैं। संकोच-विकासरूप भिन्न-भिन्न आकारों द्वारा आत्मा एकरूप लक्षित नहीं होता; क्योंकि कोई भी आकार त्रिकाल नहीं रहता; इसलिये संकोच-विस्तार द्वारा तो मात्र एक समान का व्यवहार लक्षित होता है और आत्मा का असंख्य प्रदेशीपना तो त्रिकाल एकरूप रहता है; इसलिये वह द्रव्य का स्वभाव है।—ऐसा होने पर भी अकेला असंख्य प्रदेशीपना कहीं आत्मा का लक्षण नहीं है क्योंकि असंख्य प्रदेशीपना तो धर्मास्तिकाय आदि जड़ द्रव्यों में भी है। आत्मा का लक्षण तो 'ज्ञान' है; उसी के द्वारा आत्मा लक्षित होता है। यहाँ 'ज्ञान-लक्षण' उसी को कहा है कि जो ज्ञान अंतर्मुख होकर आत्मा को लक्षित करे—आत्मा को प्रसिद्ध करे—आत्मा का अनुभव करे। यदि राग के साथ ही एकता करके राग को ही प्रसिद्ध करे—उसी का ही अनुभव करे और राग से भिन्नरूप आत्मा को प्रसिद्ध न करे—अनुभव न करे तो वह ज्ञान भी वास्तव में ज्ञान नहीं है किन्तु अज्ञान है और उसे आचार्यदेव आत्मा का लक्षण नहीं कहते। यहाँ तो ज्ञान द्वारा स्वयं अपने आत्मा को प्रसिद्ध करने की बात है। यदि ज्ञान स्वयं अपने आत्मा को प्रसिद्ध न करे और पर को ही प्रसिद्ध करे, तब तो वह पर का लक्षण हो गया—वह आत्मा का लक्षण नहीं हुआ, अर्थात् वह ज्ञान मिथ्या हुआ।

धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय इन दोनों द्रव्यों में भी आत्मा जितने ही असंख्य प्रदेश हैं, परन्तु उनमें ऐसा स्वभाव नहीं है कि कभी संकोच-विस्तार को प्राप्त हों; वे तो त्रिकाल स्थिर, लोक में व्याप्त होकर रहते हैं। आत्मा में ही ऐसी योग्यता है कि उसके प्रदेश संसारदशा में संकोच-विकास को प्राप्त होते हैं। तदुपरान्त यहाँ तो ऐसा बतलाते हैं कि संकोच-विकास जितना ही आत्मा का त्रिकालीस्वरूप नहीं है। असंख्य प्रदेशीपना नियत है—एकरूप है; इसलिये वह जीव का नित्यस्वरूप है। तदुपरान्त प्रदेशों में ऐसा भी नियतपना है कि उनका स्थान भी न बदले; संकोच-विकास हो, प्रदेशों का विस्तार ऊँचे-नीचे हो परन्तु उनके मूल विस्तार कम प्रदेशों का स्थान नहीं बदल सकता। आत्मा के ऐसे असंख्य प्रदेशों का निर्णय आगम तथा युक्ति से होता है, किन्तु छद्मस्थ को यह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। जिसप्रकार ज्ञान-आनन्द का तो साक्षात् वेदन होता है, उसी प्रकार असंख्य प्रदेश साक्षात् दिखाई नहीं देते; किन्तु जितने भाग में मुझे अपने ज्ञान-आनन्द का वेदन होता है, उतने असंख्य प्रदेशों में ही मेरा अस्तित्व है—ऐसा निर्णय हो सकता है।

देखो, यहाँ आत्मा की असंख्य प्रदेशी कहना, सो निश्चय है और संकोच-विकास के

अकाररूप कहना, सो व्यवहार है; क्योंकि असंख्यप्रदेशीपना तो सदैव रहता है, किन्तु संकोच-विकासरूप आकार तो क्षणिक है। जीव को किसी अमुक आकारवाला नहीं कहा जा सकता किन्तु 'असंख्यात प्रदेशी जीव'—ऐसा कहा जा सकता है। असंख्य प्रदेश कहे और फिर भी उसे निश्चय कहा; क्योंकि असंख्य प्रदेशी कहकर कहीं असंख्य भेद नहीं बतलाना है; किन्तु जीव का नित्य एकरूप स्वरूप बतलाना है। जीव में निगोददशा के समय भी असंख्यप्रदेशीपना है और सिद्धदशा के समय भी है—अनादि-अनंत है; इसलिये उसे निश्चय कहा है, और निगोददशा के संकोचरूप आकार के समय सिद्धदशा का आकार नहीं है, तथा सिद्धदशा के आकार के समय निगोदादि का आकार नहीं है; इसप्रकार संकोच-विकासरूप आकार में एकरूपता नहीं है किन्तु वह क्षणिक एवं भिन्न-भिन्नरूप है, इसलिये उसे व्यवहार कहा जाता है।

आत्मा के प्रदेश में संकोच-विकास हो, वह भी उसका नित्य स्थायीस्वरूप नहीं है, तो फिर आत्मा, परवस्तु को लम्बी-चौड़ी करे, वह बात कहाँ रही ? शरीर, वस्त्र, मकान आदि का संकोच-विकास आत्मा करे या लड्डू, घड़ा आदि का आकार बनाये—ऐसा कभी नहीं होत। बैल के शरीर पर कंकर लगते ही सारा शरीर फुरफरी के साथ संकुचित हो जाता है, अथवा कछुए को भय होने पर पैर और मुँह पेट में सिकोड़ लेता है; वहाँ वह शरीर को सिकोड़ने की क्रिया वास्तव में उस-उस आत्मा ने नहीं की है। उसी प्रकार जब सर्प आनन्द से डोले या क्रोध में आये, तब उसका फन फैल जाता है, तथा मेढ़क शरीर को फुलाकर गेंद की तरह विकसित कर देता है;—उसमें भी वास्तव में उस-उस आत्मा ने वह क्रिया नहीं की है। शरीर के अनुसार आत्मा के प्रदेशों में उस प्रकार का संकोच-विस्तार हुआ, वह आत्मा में हुआ है, किन्तु उस संकोच-विस्तार की पर्याय द्वारा आत्मा का नियत आकार नहीं कहलाता। असंख्यप्रदेशीपना सदैव नियत है। पुनश्च, अकेले नियतप्रदेशत्व द्वारा भी आत्मा नहीं पहिचाना जाता; किन्तु ऐसी अनंत शक्तियों का पिण्ड आत्मा है, उसे पकड़ते ही आत्मा वास्तविकस्वरूप से जाना जाता है। इस अधिकार के अंत में उपसंहार करते हुए आचार्यदेव कहेंगे कि—ऐसी अनेकान्तस्वरूप वस्तु है, उसे जानना, सो जैन नीति है। जो सत्पुरुष ऐसी जैन नीति का उल्लंघन नहीं करते, वे स्वयं ज्ञानस्वरूप होते हैं; अर्थात् आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप हो जाये, वह अनेकान्त का फल है। इसी को दूसरे प्रकार से कहें तो ज्ञान को अंतर्मुख करके ज्ञायकस्वभावी आत्मा को ग्रहण करना ही सच्चा अनेकान्त है और वही जैनमार्ग की नीति है।

आत्मा को लोकाकाश जितना असंख्यप्रदेशी कहा है, उससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि

आत्मा विस्तृत होकर लोक में व्याप्त है; आत्मा तो शरीर प्रमाण है; केवली के लोकपूर्ण समुद्घात के अतिरिक्त आत्मा कहीं क्षेत्र से लोकाकाश जितना विस्तृत नहीं है, किन्तु उसके प्रदेशरूप अवयवों की संख्या लोकाकाश के प्रदेश जितनी ही है। आत्मा लोकाकाश जितना चौड़ा हो, वह निश्चय और शरीरप्रमाण रहे, वह व्यवहार—ऐसा नहीं है; किन्तु संख्या से आत्मा को लोक जितने असंख्य प्रदेश त्रिकाल हैं, वह निश्चय और शरीरप्रमाण आकार कहना, सो व्यवहार है। आत्मा के असंख्यप्रदेशों में अनंत गुण व्याप्त होकर रहे हैं, अर्थात् असंख्यप्रदेशी आत्मा स्वयं ही अनंत गुणस्वरूप है। उन गुणों में ऐसी अंश कल्पना नहीं है कि गुण का अमुक भाग एक प्रदेश और अमुक दूसरे प्रदेश में; आत्मा के असंख्य प्रदेशों में कोई प्रदेश गुणों से हीन या अधिक नहीं है; इसलिये पैर आदि निचले अवयवों के आत्मप्रदेशों को बुरा कहना तथा ऊपरी मस्तक आदि अवयवों के आत्मप्रदेशों को अच्छा—ऐसा भेद आत्मप्रदेशों में नहीं है। समस्त प्रदेश अनंत शक्ति से पूरिपूर्ण हैं; इसलिये तेरे असंख्य प्रदेशों में भरी हुई अपनी स्वभावशक्ति को देख—यही तात्पर्य है।

हे जीव! अपने असंख्य प्रदेशों में ही तेरा कार्यक्षेत्र है। तेरा जो कुछ है, वह सब तेरे असंख्य प्रदेशों मे ही है, अपने असंख्य प्रदेशों से बाहर तेरा कुछ नहीं है। तेरा सुख या दुःख, तेरा ज्ञान या अज्ञान, तेरी शांति या अशांति, तेरी वीतरागता या राग-द्वेष—वह सब तेरे असंख्य प्रदेशों में ही है; तेरे असंख्य प्रदेशों से बाहर अन्यत्र कहीं तेरा सुख या दुःख नहीं है; तेरी अशांति भी बाह्य में नहीं है। तेरी शांत-उपशम स्वभाव की विकृतिरूप अशांति का वेदन भी तेरे असंख्य प्रदेशों में ही है। जहाँ अशांति का वेदन होता है, वहीं तेरा शांतिस्वभाव भरा है; जहाँ अज्ञान है, वहीं तेरा ज्ञानस्वभाव विद्यमान है; जहाँ दुःख का वेदन है, वहीं तेरा आनन्दस्वभाव परिपूर्ण है; जहाँ राग-द्वेष को उत्पत्ति होती है, वहाँ तेरा वीतरागी स्वभाव विद्यमान है। इसलिये अशांति को दूर करके शांति; दुःख को दूर करके सुख; अज्ञान को दूर करके ज्ञान और राग-द्वेष को दूर करके वीतरागता करने के लिये कहीं बाह्य में न देख, किन्तु अपने स्वभाव में ही देख। तू स्वयं ही ज्ञान-सुख-शांति-वीतरागता से परिपूर्ण है, इसलिये उसमें दृष्टि कर। तेरे आत्मा का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है कि जिसमें ज्ञान-सुख-शांति-वीतरागतारूप स्वभाव न भरा हो; इसलिये उस स्वभाव को देखना सीख ले तो तुझे अपने ज्ञान-सुख-शांति और वीतरागता का व्यक्त अनुभव हो। बाह्य में देखने से ज्ञान-सुख-शांति या वीतरागता का वेदन नहीं होगा, क्योंकि तेरा ज्ञान-सुख-शांति या वीतरागता कहीं बाह्य में नहीं है।

आत्मा अपनी इच्छानुसार पर के कार्य कर सके - ऐसा तो नहीं होता; और इच्छानुसार ही

प्रदेशों का संकोच-विकास हो—ऐसा भी नहीं होता। ठिगना शरीर हो, वहाँ लम्बा शरीर होने की इच्छा करता है, तथापि उसकी इच्छानुसार शरीर परिणमित नहीं होता तथा आत्मा के प्रदेशों में भी वैसा परिवर्तन नहीं होता। प्रदेशशक्ति का कार्य स्वतंत्र है; उसमें इच्छा की निरर्थकता है। जिसप्रकार इच्छानुसार प्रदेशों की रचना नहीं होती, किन्तु प्रदेशों की वैसी योग्यता से ही उनकी रचना होती है; उसी प्रकार 'मैं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र करूँ अथवा मोक्ष प्राप्त कर लूँ'—ऐसी इच्छा द्वारा सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, किन्तु अंतरंग पूर्ण शक्तिरूप निज स्वभाव का अवलम्बन लेकर उसरूप परिणमन करे, तभी सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शनादि का परिणमन आत्मा की शक्ति में से होता है, कहीं इच्छा में से नहीं होता; इसलिये आत्मा की शक्ति का अबलम्बन कर और इच्छा को पराश्रय को निरर्थक जान।

प्रश्न—शरीर में जैसा संकोच या विकास हो, वैसा ही संकोच या विकास आत्मा में होता है। एक हजार योजन लम्बे मच्छ होते है; वहाँ उस हजार योजन शरीर में रहनेवाले आत्मा के प्रदेश भी उतने विस्तार को प्राप्त हुए है; और अंगुल के असंख्यातवें भाग का छोटा शरीर हो, उसमें रहनेवाले आत्मा के प्रदेश उतना संकोच प्राप्त करके रहते हैं; दोनों आत्मा के प्रदेश समान होने पर भी जैसा-जैसा शरीर आये, उस-उस आकार को प्राप्त होते हैं; इसलिये वह शरीर के कारण हुआ या नहीं ?

उत्तर—नहीं; शरीर में जैसा संकोच या विकास हो, वैसा ही संकोच या विकास आत्मा में होता है; तथापि दोनों स्वतंत्र है। शरीर में क्षयरोग होने पर दुबला हो जाये, वहाँ आत्मा के प्रदेश भी वैसे संकुचित हो जाते हैं, और शरीर हृष्ट-पुष्ट होने पर आत्मा के प्रदेश भी उसी आकार में विकसित होते हैं। लेकिन इसप्रकार शरीर और आत्मा दोनों एक ही काल में संकोच या विकास को प्राप्त हो, उससे क्या ? वहाँ शरीर के कारण आत्मा संकुचित हुआ अथवा आत्मा ने शरीर को संकुचित किया—ऐसा नहीं है। जगत में सदैव निरन्तर एक साथ अनंत द्रव्य अपना-अपना कार्य कर ही रहे हैं; एक साथ सबके कार्य हों तो उससे कहीं एक-दूसरे के कर्ता नहीं कहलाते। जहाँ सिद्ध भगवन्त विराजमान हैं, वहीं निगोद के जीव भी रहते हैं; सिद्ध भगवन्त अपनी परमानन्दरूप सिद्धदशा में परिणमित हो रहे हैं और उसी समय तथा उसी क्षेत्र में रहनेवाला निगोद का जीव परम दुःखरूप निगोददशा में परिणमित हो रहा है—तो एक ही समय और एक ही क्षेत्र में दोनों का कार्य हुआ, इसलिये दोनों को एक कहा जा सकता है ? अथवा उन्हें एक-दूसरे का कर्ता कहा जा सकता है ?—नहीं। उसी प्रकार जीव तथा शरीर के संकोच-विकास का कार्य एक क्षेत्र में और एक काल में

हो तो उससे कहीं दोनों एक नहीं कहा जा सकता है; इसप्रकार न्यायपूर्वक दो द्रव्यों की भिन्नता को जाने तो समस्त पर में से मोह (-आत्मबुद्धि) छूट जाये और अपने चैतन्यरूप आत्मा में ही बुद्धि ढल जाये। इसप्रकार बुद्धि को अथवा मति-श्रुतज्ञान की आत्मस्वभावोन्मुख करना, वह अपूर्व धर्म की रीति है। प्रथम दृष्टि में निर्मोही हो सकते हैं, बाद में क्रमशः चारित्र में निर्मोह होता है—ऐसा क्रम है।

इस जड़ शरीर के अवयव आत्मा नहीं है, आत्मा तो असंख्य प्रदेशी चैतन्य शरीरवाला है। भाई! यह देह तो संयोग-वियोगरूप क्षणभंगुररूप, क्षणिक, नाशवान, जड़ है; तेरा आत्मा उससे पृथक्, असंयोगी, नित्य चेतनस्वरूप है; तेरा असंख्य प्रदेशी शरीर अनादि-अनंत नियत है, सदैव अतीन्द्रियज्ञानमय है। चारों गति में चाहे जितने शरीर धारण किये और छोड़े, तथापि तेरे आत्मा का एक प्रदेश भी कम-अधिक नहीं हुआ।

जीव का छोटा-बड़ा आकार शरीर के या आकाश के निमित्त से है; किन्तु अकेले जीव का स्व-आकार तो निश्चय से सर्वज्ञ भगवान ने असंख्य-प्रदेशी देखा है। इसके अतिरिक्त शरीर के अवयव तो जड़ की रचना है, उन्हें आत्मा का मानना, वह भ्रम है। भाई! तेरा चैतन्यशरीर नित्य असंख्य प्रदेशी है और वही तेरा अवयव है। असंख्य प्रदेशों में अनंत शक्तियाँ भरी हैं। सचमुच तू जड़-शरीर में विद्यमान नहीं है किन्तु अपने असंख्य प्रदेशों में ही तू विद्यमान है। असंख्य प्रदेशी क्षेत्र ही तेरा घर है; वहीं तेरा स्थान है।

निगोद से निकलकर कोई जीव केवलज्ञान और सिद्धदशा प्राप्त करे, तो वहाँ पहले निगोददशा में जो असंख्य प्रदेश थे, वे ही असंख्य प्रदेश सिद्धदशा में हैं; कहीं दूसरे नये प्रदेश नहीं आ गये हैं। असंख्य प्रदेशों में जो शक्ति भरी थी, वह प्रगट हुई है। कोई एक धनुष (चार हाथ) के शरीराकार में मोक्ष प्राप्त करता है और कोई पाँच सौ-सवा पाँच सौ धनुषाकार शरीर से मोक्ष जाता है, तथापि उन दोनों के आत्मप्रदेश तो समान ही हैं; ज्ञान समान हैं, आनन्द समान हैं; प्रभुता समान है;—इसप्रकार बाह्य आकृति से महत्ता नहीं है, किन्तु असंख्य प्रदेशों में जो पूर्णरूप आत्मस्वभाव भरा है, उस स्वभाव की महत्ता है।—ऐसे असंख्य प्रदेश में भरे हुए आत्मस्वभाव को जाने तो देहादि समस्त पदार्थों में से अहंकार या महिमा छूट जाये; देह छूटने के प्रसंग पर भी ऐसे स्वभाव के लक्ष से शांति बनी रहे। मैं शरीर में रहा हूँ ही नहीं, मैं तो अपने असंख्य प्रदेश में ही हूँ—ऐसे भिन्नता के ज्ञान द्वारा मृत्यु प्रसंग पर भी समाधि रहती है।

—यहाँ चौबीसवीं नियतप्रदेशत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

परम शांतिदायी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अध्यात्म भावनामय वैराग्य प्रेरक प्रवचनों का सार

[२]

[वीर सं० २४८२, ज्येष्ठ कृष्णा ३, समाधिशतक गाथा-२]

आत्मा की पूर्ण शुद्ध ज्ञान-आनन्दमय दशा, वह सिद्धपद है और ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लेकर उसके संवेदन में एकाग्रता का उद्यम करना, वह मोक्ष का अनुष्ठान है। पूर्ण शुद्धपद को प्राप्त सिद्ध और अरिहंत परमात्मा, वे देव हैं और उसकी साधना करनेवाले आचार्य-उपाध्याय, मुनि, वे गुरु हैं तथा अरिहंत परमात्मा आदि की वाणी, वह शास्त्र है।

पहले श्लोक में मंगलरूप से श्री सिद्ध भगवान को नमस्कार किया; अब दूसरे श्लोक में सकलपरमात्मारूप श्री अरिहंत भगवान को तथा उनकी वाणी को नमस्कार करते हैं:—

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती विभूतयस्तीर्थकृतोप्यनीहितः।
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

सकलपरमात्मा श्री अरिहंतदेव को नमस्कार हो। कैसे हैं वे परमात्मा ?—कि जो तालु-ओष्ठ इत्यादि से बोलते न होने पर भी, जिनकी वाणी जयवंत वर्तती है। भगवान की वाणी सर्वांग से बिना इच्छा के खिरती है, वह वाणी श्रेष्ठ है;—ऐसी भारती जयवंत वर्तती है और वह जीवों को तीर्थ अर्थात् मोक्षमार्ग बतलानेवाली होने से उसे तीर्थ भी कहते हैं। भगवान के इच्छा न होने पर भी वे समवसरणादि वैभवसहित हैं और तीर्थ के कर्ता हैं। अरिहंत भगवान शरीरसहित होते हैं, इसलिये वे सकलपरमात्मा हैं और शरीररहित सिद्ध परमात्मा, वे निकलपरमात्मा हैं।

अरिहंत भगवान का शरीर महान सुन्दर परम औदारिक होता है—उसमें देखनेवाले को अपने अगले-पिछले सात भव दिखाई देते हैं (भविष्य के भव जिसके होते हैं, उसे दिखाई देते

हैं।) भगवान के समवशरण का अचिन्त्य वैभव होता है; ऊपर तीन छत्र फिरते हैं। छत्र मोतियों के बने उत्कृष्ट होते हैं; तथा भामंडल आदि भी होते हैं। इसप्रकार दिव्यध्वनि और छत्रादि वैभव सहित जो जयवंत वर्तते हैं—ऐसे अरिहंतदेव को नमस्कार हो।

अरिहंत कैसे हैं? शिव हैं, धाता हैं, सुगत हैं, विष्णु हैं, जिन हैं, और सकल आत्मा हैं।—किसप्रकार हैं? वह कहते हैं:—

शिव अर्थात् आत्मा का कल्याण, उसे स्वयं प्राप्त है और दिव्यध्वनि के उपदेश द्वारा भव्य जीवों को शिवमार्ग-मोक्षमार्ग के प्रणेता होने से श्री अरिहंत भगवान ही शिव हैं, कल्याणरूप हैं; उनसे विरुद्ध अन्य कोई सचमुच शिव नहीं है।

भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में लगाये रखते हैं, इसलिये वे ही धाता हैं। यथार्थ उपदेश द्वारा भव्य जीवों को सन्मार्ग में लगाये रखते हैं; इसलिये वे ही विधाता हैं। जैसे—लोक में कहा जाता है कि विधाता लेख लिखते हैं; उसीप्रकार भगवान केवलज्ञान में समस्त जीवों के त्रिकाल के लेख लिखे गये हैं—इसलिये वे ही सच्चे विधाता हैं। शोभायमान ऐसे दिव्यज्ञान को प्राप्त होने से अरिहंत भगवान को सुगत कहते हैं। गत अर्थात् ज्ञान; केवलज्ञान द्वारा ही आत्मा की शोभा हैं; इसलिये जो ऐसे केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं, वे ही सुगत हैं। अथवा सुगत अर्थात् सम्यक् गति; पुनरावर्तनरहित ऐसी जो मोक्षगति, उसे प्राप्त होने से भगवान ही सुगत हैं। संसार की चार गतियाँ तो कुगति हैं और सिद्धगति ही सच्ची सुगति है; ऐसी सुगति को प्राप्त होने से अरिहंत भगवान ही सुगत हैं। अथवा 'सुगत' का तीसरा अर्थ इसप्रकार है—'सु' अर्थात् सम्पूर्णरूप ऐसे अनंत चतुष्टय, उन्हें 'गत' अर्थात् प्राप्त—ऐसे सर्वज्ञदेव वे सुगत हैं।

सर्वज्ञदेव, केवलज्ञान द्वारा समस्त वस्तुओं में व्यापक होने से-ज्ञायक होने से-विष्णु हैं।

अनंत भवभ्रमण के कारणरूप ऐसे जो मोहादि कर्म (भाव तथा द्रव्यकर्म) उनके विजेता होने से अरिहंतदेव 'जिन' हैं। चैतन्यस्वभाव की अधिकता द्वारा जिन्होंने मोहादि को जीत लिया है—नष्ट किया है, वे जिन हैं।

और सकल अर्थात् शरीरसहित हैं।—ऐसे अरिहंत परमात्मा को नमस्कार हो।

वे दिव्य भारती द्वारा हित के उपदेष्टा हैं। भगवान की भारती कैसी है?—सर्व जीवों को हितरूप है। वर्णसहित नहीं, अर्थात् निरक्षरी है, जिसमें दो ओष्ठ नहीं हिलते, वांछारूपी कलंक नहीं है, किसी दोषरूप मलिनता नहीं है; श्वाँस के रुँधन से रहित होने के कारण जिसमें क्रम नहीं है; शांतमूर्ति ऋषिगणों के साथ-साथ पशुओं ने भी अपनी-अपनी भाषा में जिसका श्रवण किया है—ऐसी सर्वज्ञदेव की अपूर्व वाणी हमारी रक्षा करो और विपदा हरो!

सर्वज्ञ भगवान, शरीरसहित होने पर भी आहारादि दोष से रहित हैं। जहाँ आत्मा के अनंत आनन्द का उपभोग प्रगट हो गया है, वहाँ क्षुधादि दोष नहीं होते और न आहारादि होते हैं। भगवान को राग-द्वेषादि दोष भी नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य कुदेव तो रागादि सहित हैं; क्षुधादि दोष -सहित हैं, इसलिये वह आत्मा के इष्ट नहीं हैं। अतीन्द्रिय आनन्दसहित ऐसा सर्वज्ञपद ही आत्मा का परम इष्ट है, इसलिये उसका आदर करके नमस्कार करते हैं।

सर्वज्ञभगवान का उपदेश, आत्महित का कारण है। राग से पार होकर आत्मस्वभावोन्मुख हो, वही हित का उपाय है—ऐसा भगवान का उपदेश है। अरिहंत भगवान ही सर्वज्ञ-हितोपदेशी हैं, वे ही इष्ट देव हैं; इनके अतिरिक्त बुद्ध आदि तो वस्तुस्वरूप को न जाननेवाले अज्ञानी गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं, वे हितोपदेशी नहीं हैं। आत्महित का सच्चा उपाय क्या है ?—वह जिसने स्वयं नहीं जाना है, वह हितोपदेशी कैसे होगा ? जगत में तो अज्ञानी जीवों का अधिकांश ऐसे कुदेवादि को मानता है, किन्तु वे कोई आत्मा के हितोपदेशक नहीं हैं। सर्वज्ञ-वीतराग अरिहंत परमात्मा ही जगत में हितोपदेशक हैं। वे कहते हैं कि—"आत्मा स्वयं ही अपना प्रभु है,— मैं प्रभु अपना और तू प्रभु तेरा; मेरी प्रभुता मुझमें और तेरी प्रभुता तुझमें।—इसलिये अपने आत्मा को पहिचानकर उसके सन्मुख हो, उसी में तेरा हित है।" इस प्रकार सर्वज्ञदेव अरिहंत परमात्मा ही सच्चे हितोपदेशी हैं, वे ही इष्ट देव हैं; इसलिये यहाँ उन्हें नमस्कार किया है।

—इसप्रकार परम हितोपदेशी ऐसे तीर्थंकर अरिहंत परमात्मा को तथा उनकी दिव्यध्वनि -रूपी भारती को नमस्कार किया।

राजा भीख माँगता है!

अपने आनन्द निधान को भूला हुआ.... आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द से दूर सारा जगत भिखारी है; क्योंकि वह इन्द्रिय विषयों से आनन्द की भीख माँग रहा है....

उसे सर्वज्ञदेव और संत संबोधित करते हैं कि—

अरे विषयों के भिखारी ! तू तो चैतन्य राजा है !!

राजा होकर तू भीख माँगता है ? तुझमें तो अतीन्द्रिय आनन्द निधान भरे हैं; उन्हें भूलकर तू इन्द्रिय विषयों से आनन्द की भीख क्यों माँग रहा है !! वह भिखारीपना छोड़.... और अपने आनन्द निधान को सँभालकर अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग कर। *[—पूज्य गुरुदेव]*

हुं कोण छुं ? क्यांथी थयो ?

[मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ?]

[मियागाम करजन में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

इस देह में विद्यमान आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसका भान करके जिन्होंने पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की, वे सर्वज्ञ परमात्मा हैं। वे जगत को शांति का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि—जिस प्रकार मिट्टी के बिना घड़ा नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा के बिना शान्ति नहीं होती। आत्मा के स्वभाव में ही शांति और आनंद भरा है; उस स्वभाव को पहिचानने से आत्मा को अपनी शांति का अनुभव होता है।

जीव बाह्य विषयों में समय बिताता है, किंतु अंतर के चैतन्यतत्त्व की रुचि करके उसे समझने के लिये अवकाश नहीं निकालता। जब सत् सुनने का अवसर आया, उस समय जीव ने उसकी परवाह नहीं की, इसलिये वह इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। आत्मा में ही—(लैंडी पीपल की भाँति) परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति भरी है; किन्तु वह अपने आनन्द को बाह्य में ढूँढ़ता है। यदि एकबार भी अंतर के चिदानन्दस्वभाव को पहिचानकर जन्म-मरण का नाश करे, तो पुनः संसार में जन्म धारण न करना पड़े। जिसप्रकार मक्खन से घी बनता है किन्तु घी से पुनः मक्खन नहीं बनता; उसी प्रकार संसार में भटकता हुआ आत्मा सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा मुक्ति प्राप्त करता है, किन्तु मुक्त हुए आत्मा को पुनः संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता।

जिस प्रकार दियासलाई के सिरे में अग्नि प्रगट होने की शक्ति है, उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान ज्योति प्रगट करने की शक्ति है। चैतन्यमूर्ति आत्मा देहादि से पर है; देह तो जड़ है, उसमें कहीं ज्ञान ज्योति प्रगट होने की शक्ति नहीं है। देह के साधन से जीव को धर्म नहीं होता। धर्म का साधन आत्मा स्वयं ही है। मिठाई के रसास्वाद में तो अज्ञानी आनन्द मानता है किंतु अपने आत्मा के चैतन्यरस को वह नहीं जानता। मिष्टान्न तो जड़ है; उसका छह घंटे में रूपान्तर होकर विष्टा बन जाता है। उसमें स्वप्न में भी आत्मा का सुख नहीं है; किंतु अज्ञानी ने मात्र कल्पना से माना है। आत्मा के स्वभाव का अतीन्द्रिय सुख अज्ञानी के लक्ष में नहीं आता। आत्मा के स्वभाव में जो सुख है, वैसा सुख जगत के किसी विषय में नहीं है। अहो! आत्मानन्द के अतीन्द्रियस्वाद का वर्णन

वाणी द्वारा नहीं हो सकता। इसलिये श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

''जो पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहिं ते पण श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी तो शुं कहे?
अनुभव गोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो॥''

आत्मा के स्वभाव का परम अनंत आनंद सिद्धपद में सादि-अनंत प्रगट हो गया है। सिद्ध भगवान सादि-अनन्त अपने अनंत आनन्द में विराज रहे हैं। अहो! उस सिद्धपद की महिमा वाणी से क्या कहें? उन सिद्ध भगवन्तों के आनंद की क्या बात है!!—जो आत्मस्वभाव में अंतर्मुख होकर अनुभव करे, उसी को उसका अनुभव होता है। सम्यक्त्वी को आंतरिक शांति के स्वाद में दुनिया के विषयों का कोई मूल्य नहीं रहता। मेरे आत्मा का आनन्द जगत के विषयों से पर है। भाई! एक बार अपने आत्मा में सम्यक्ज्ञान की झन्कार तो उत्पन्न कर कि मेरा आत्मा इन देहादि से भिन्न स्वयं ही आनन्दस्वरूप है। बाह्य में कहीं मेरे आत्मा का आनंद नहीं है; अन्तर्मुख होकर स्वभाव में एकाग्र होने पर ही मेरा आनंद प्रगट होता है। जिसप्रकार घड़ा मिट्टी में से ही बनता है, उसी प्रकार मेरी शांति मेरे आत्मा में से ही आती है। आत्मा के सम्यक्ज्ञान बिना उसकी शांति या मुक्ति नहीं होती; इसलिये सत्समागम द्वारा अपनी पात्रतापूर्वक आत्मस्वरूप का अभ्यास करना चाहिये। यह शरीर कहीं जीव के आधीन नहीं रहता; क्योंकि जीव की इच्छा न होने पर भी वह तो क्षणमात्र में छूट जाता है; इसलिये वह वस्तु आत्मा की नहीं है। लक्ष्मी आदि का संयोग भी जीव की इच्छानुसार आता या रहता नहीं है। आत्मा की वस्तु तो ज्ञान है; मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसा निर्णय जीव ने अनंतकाल में कभी नहीं किया। 'मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है?' वह कभी नहीं जाना। 'मैं मनुष्य, मैं वणिक, मैं अमुक आदमी का पुत्र, अमुक मेरा पुत्र;'—इसप्रकार जीव ने भ्रमपूर्वक देह को ही अपना स्वरूप मान लिया है; किंतु हराम है वे कोई जीव के हों तो! जो जीव के हों वे कभी जीव से पृथक् नहीं होते, और जो पृथक् हो जाते हैं, वे जीव से पृथक् ही हैं। जीव जो ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान कभी उससे पृथक् नहीं होता।

एक क्षण भी ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को यथार्थरूप से जान ले तो अनंतकाल का परिभ्रमण दूर होकर अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे। श्रीमद् राजचन्द्रजी १६ वर्ष और ५ महीने की उम्र में कहते हैं कि:—

हुं कोण छुं, क्यांथी थयो, शुं स्वरूप छे मारुं खरुं!
कोना सम्बन्धे वलगणा छे राखुं के अे परिहरुं!
अेना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धांततत्त्वो अनुभव्यां॥

अरे! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव पाकर भी "मैं कौन हूँ?"—इसका विचार भी जीव नहीं करता; बाह्य कार्यों के मारे उसे चैतन्य की बात सुनने का अवकाश नहीं मिलता।

हे जीव! ऐसा अवतार और सत्समागम अनंतकाल में मिलना दुर्लभ है। उसमें यदि आत्मा की दरकार करके उसे समझने का अवकाश नहीं लिया तो इस चौरासी के जन्म-मरण का कभी अंत नहीं आ सकता। तू अंतर्मुख होकर देख! अनंतकाल से अपरिचित उस वस्तु का अपूर्व भाव है; उसे समझने के लिये सत्समागम से बारम्बार श्रवण-मनन तथा धारण करके अंतर में प्रयोग करना चाहिये। अंतर प्रयोग के बिना सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता, मुक्ति या शांति नहीं होती। इसलिये हे जीवो! अंतर का सुख अंतर में है, उसका विश्वास करो!

अरिहंत प्रभु प्रभुता बतलाते हैं।

श्री अरिहंत भगवान कहते हैं कि अहो! पूर्ण चैतन्यघन स्वभाव पर दृष्टि करके उसमें अन्तर्मुख एकाग्रता से हमने केवलज्ञान प्रगट किया है। प्रत्येक जीव के अंतर में चैतन्यसागर छलक रहा है, उसमें अन्तर्दृष्टि करना, सो सम्यग्दर्शन है। परिपूर्ण चैतन्य आत्मा का भान किये बिना किसी प्रकार सच्चा सम्यक्त्व नहीं होता। प्रत्येक आत्मा प्रभु है, पूर्ण सामर्थ्यवान है; वर्तमान अवस्था में भले ही अपूर्णता हो किन्तु वह अपूर्णता सदैव बनी रहे—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। पर्याय से भी परिपूर्ण होने का प्रत्येक आत्मा का सामर्थ्य है।—ऐसे आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसके अनुभव से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। [—प्रवचन से]

बालकों में कैसे संस्कार डालना चाहिये ?

खुले मैदान में विशाल वृक्ष के नीचे, उपशांत वातावरण में इटोला ग्राम के विद्या मन्दिर में पू० गुरुदेव का प्रवचन

[मंगसिर शुक्ला ३, बुधवार]

आत्मतत्त्व इस देह से भिन्न है; उसे पहिचानना ही सच्ची विद्या है। अनंतकाल से आत्मा चार गति में भ्रमण कर रहा है और दु:खी होता है; वह परिभ्रमण जिससे दूर हो, वही सच्ची विद्या है। विद्या विहीन मनुष्य को पशु कहा जाता है। कोई किसी आदमी से कहे कि—'तू गधा है-ढोर है;' तो उसे अच्छा नहीं लगता; किन्तु जिस भाव से पशु जैसा अवतार मिलता है, उस भाव का यदि वह वर्तमान में सेवन कर रहा है तो वह पशु ही होगा। जो इस भव में पशु हुए हैं, उन्होंने पूर्वकाल में मायाकपट के भाव किये थे, उसी के फल में पशु हुए हैं; और जो मनुष्य होकर भी आत्मा का ज्ञान नहीं करते तथा तीव्र माया—दंभ—हँसी आदि भावों का सेवन करते हैं, वे भी पशु होने की ही तैयारी कर रहे हैं; इसलिये ज्ञानी उन्हें पशु कहते हैं।

यह मनुष्य अवतार पाकर बचपन से आत्महित के संस्कार डालना चाहिये। श्रीमद् राजचन्द्रजी १६ वर्ष की उम्र में कहते हैं कि—

हुं कोण छुं, क्यांथी थयो, शुं स्वरूप छे मारुं खरुं!
कोना सम्बन्धे वलगणा छे राखुं के अे परिहरुं!
अेना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धांततत्त्वो अनुभव्यां॥

देखो, यह कथन!! बचपन से ही उनके श्रेष्ठ संस्कार थे। सात वर्ष की उम्र में तो उन्हें जातिस्मरण अर्थात् पूर्व भव में मेरा आत्मा कहाँ था—उसका भान था। फिर उन्होंने इस काव्य की रचना की है। शरीर की बाल्यावस्था थी किन्तु आत्मा कहाँ बालक था ?

यह शरीर कहीं आत्मा नहीं है; शरीर तो क्षणभंगुर है—आत्मा क्षणभंगुर नहीं है; वह तो अविनाशी है। वृद्ध, युवा अथवा बालक सबको आत्मा का ज्ञान करना चाहिये। शरीर का कोई विश्वास नहीं है कि इतने वर्ष तक वह बना रहेगा। छोटी उम्र में भी कई लोगों का शरीर छूट जाता

है। शरीर पृथक् है और शरीर को जाननेवाला उससे पृथक् है—ऐसा जानना चाहिये। शरीर तो स्थूल वस्तु है और उसमें रहनेवाला आत्मा सूक्ष्म है।

चने की भाँति आत्मा में मीठा स्वाद अर्थात् आनन्द शक्तिरूप से भरा है; किन्तु अज्ञानदशा में उसका स्वाद नहीं आता। यदि सम्यक्ज्ञान करे तो अंतर के आनन्द का स्वाद आये और फिर उसे जन्म-मरण न हो।

अरे जीवो! विचार तो करो—''मैं कौन हूँ? और यह परिभ्रमण मुझे किसलिये हो रहा है?'' यह शरीर तो नया मिला है। पच्चीस, पचास या सौ वर्ष पहले यह शरीर नहीं था; इसलिये यह शरीर तुम्हारी वस्तु नहीं है; तुम तो शरीर से भिन्न ज्ञाता तत्त्व हो। यह सब कौन जानता है? जाननेवाला तो आत्मा है। आत्मा न हो तो यह सब कौन जानेगा? लाखों के मूल्य का हीरा हो, किन्तु आँख न हो तो? आँख के बिना उसे कौन देखेगा? इसलिये आँख का मूल्य अधिक हुआ या हीरे का? और आँख भी आत्मा के बिना कैसे जानेगी? आत्मा के बिना इस आँख के गट्टे कुछ नहीं जान सकते, इसलिये सबको जाननेवाले ऐसे आत्मा की ही सच्ची महिमा है। ऐसे आत्मा का भान करने से आठ वर्ष के बालक को भी पूर्ण परमात्मदशा हो सकती है—ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है। अरे! मेढ़क-सर्प-हाथी और सिंह आदि को भी ऐसे आत्मा का ज्ञान हो सकता है; किन्तु उसके लिये अंतर आत्मा का अपार प्रेम होना चाहिये—समझने की दरकार होना चाहिये। पहले से—बचपन से ही ऐसे संस्कार डालना योग्य है। इसके लिये सोनगढ़ से एक 'जैन बालपोथी' नामक पुस्तिका प्रकाशित हुई है।

श्रीमद् राजचन्द्र को छोटी उम्र में ही ज्ञान का बहुत विकास था। छोटी-सी उम्र में इतना विकास देखकर उन्हें ख्याल आ गया था कि अवश्य ही इसमें कोई पूर्वभव के संस्कार हैं। इसलिये वे कहते हैं कि—

''लघुवय थी अद्भुत थयो तत्त्वज्ञान नो बोध,
अेज सूचवे अेम के गति—आगति काँ शोध?''

अंतर में विचार करना चाहिये कि मेरा आत्मा इस भव से पहले भी कहीं था... और इस भव के बाद भी कहीं रहेगा। मेरे आत्मा का हित कैसे हो?—ऐसे संस्कार बचपने से ही डालना चाहिये। बालकों का आत्मा भी इसे समझ सकता है, क्योंकि समस्त आत्माओं में समान शक्ति है। बालकों को तो यह आत्मविद्या पहले सीखने योग्य है; क्योंकि सच्चा सुख इस आत्मविद्या से ही

प्राप्त होता है। सभा में पूछा जाये कि—जिसे सुख चाहिये हो, वह अपना हाथ उठा दे, तो सारी सभा के हाथ ऊपर उठ जायेंगे। और फिर पूछो कि—कैसा सुख चाहिये ?-नाशवान या अविनाशी ? तो सब दोनों हाथ उठाकर कहेंगे कि अविनाशी सुख चाहिये तो वह अविनाशी सुख प्राप्त करने के लिये यह आत्मविद्या पढ़ना चाहिये। विद्या विनय से आती है; इसलिये तीव्र हिंसा-झूठ-चोरी-परस्त्री-खानपान की लोलुपता आदि तीव्र पाप-भावों को छोड़कर विनय एवं पात्रता प्राप्त करना चाहिये और सत्समागम द्वारा देह से भिन्न आत्मा के स्वरूप का विचार करना चाहिये। भाई, तूने अज्ञान के कारण इतने भव किये हैं कि तेरे अवतारों का कोई अंत नहीं है। क्रोधादि भावों से तेरा आत्मा दु:खी हो रहा है; उसे कहीं शांति नहीं है; इसलिये आत्मा क्या वस्तु है, उसका वास्तविक ज्ञान कर तो तेरा भव दु:ख दूर हो और तुझे शांति मिले। ऐसे तत्त्व का अभ्यास और विचार बालकों को बचपन से ही कराना चाहिये। बालक भी आत्मा हैं और उनमें समझने की शक्ति है।

आनन्दमय मांगलिक

[बरवाला ग्राम में पूज्य गुरुदेव का मंगलाचरण]

आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हो, वह मांगलिक है।

मांगलिक का अर्थ क्या है ? मंग अर्थात् आत्मा की पवित्रता; उसे जो लाये, वह मांगलिक है। अथवा मंग अर्थात् पाप, उसे जो गलित करे—नाश करे, वह मांगलिक है। आत्मा के ज्ञानानन्द -स्वरूप की श्रद्धा करना—ज्ञान करना—एकाग्रता करना—ऐसा जो भाव, वह स्वयं मंगल है। तीर्थंकर भगवंतों ने जो परमानन्ददशा प्राप्त की, वह कहाँ से की ? अपने आत्मा में से ही वह दशा प्राप्त की है। सुख-आनन्द-शांति, वह आत्मा में ही है। बाह्य विषयों में कहीं सुख शांति या आनन्द नहीं है।—ऐसे आत्मा का भान करना, वह मंगल है।

मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है ?-वह जीव ने कभी नहीं सोचा। भगवान कहते हैं कि अहो जीवो! तुम देहादि से भिन्न चैतन्यतत्त्व हो.... ज्ञान और आनन्द तुम्हारा स्वभाव है; किन्तु उसे

भूलकर जीव बाह्य में सुख मानकर संसार में भटक रहा है, वह अमंगल है; और आत्मा के ज्ञान द्वारा जो उसका नाश करे, वह मंगल है। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हो, वह मांगलिक है।

आत्मा की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान करके जो परमात्मा हुए—ऐसे अरिहन्त मांगलिक हैं, सिद्ध मांगलिक हैं, साधु मांगलिक हैं और उनके द्वारा किया गया धर्म, मांगलिक है। स्वयं उसका भान करे तो अपने में मंगल हो। आत्मा के ज्ञान बिना कभी जन्म-मरण का अंत नहीं आ सकता।

भाई, यह शरीर तेरा नहीं है; इसमें तेरा आनन्द नहीं है; आनन्द तो तेरे आत्मा में है। उसका तूने कभी भान नहीं किया। अनंतकाल का अपरिचित मार्ग सत्समागम एवं अपनी पात्रता के बिना समझ में नहीं आ सकता। भगवान तीर्थंकरदेवों ने जो कुछ किया है, वही करने को जगत से कहा है। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव में ही परमात्मा होने की शक्ति है; उसमें एकाग्रता द्वारा ही अनंत जीव परमात्मा हुए और भगवान ने यही उपदेश दिया कि आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप में एकाग्रता करो। यह संतों का मार्ग है। जिस प्रकार कस्तूरी मृग अपने में भरी हुई कस्तूरी की सुगंध बाहर ढूँढ़ता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने आनन्दस्वभाव को भूलकर बाह्य में आनन्द ढूँढ़ता है। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप का भान करना ही जगत में उत्कृष्ट मंगल है। मंगल उसे कहा जाता है जिससे सुख की प्राप्ति तथा उसकी वृद्धि हो। संसार में पुत्र जन्म, विवाह आदि कार्यों को मंगल अवसर कहते हैं, किन्तु वे तो लौकिक कार्य हैं, वह वास्तव में मंगल नहीं है। मंगल तो उसे कहा जाता है जिससे आत्मा को सुख-शांति प्राप्त हो और दुःख टलें।

भाई! अनंतानंत काल से तेरा आत्मा संसार में परिभ्रमण कर रहा है.... अनंतानंत शरीर तूने धारण किये हैं और छोड़े हैं; किन्तु आत्मा, देह से भिन्न क्या वस्तु है—उसका तूने कभी भान नहीं किया। अहिंसारूप धर्म, वह मंगल है; किन्तु अहिंसा का स्वरूप क्या है, उसकी जीव को खबर नहीं है। एक क्षण की अहिंसा मुक्ति प्रदान करती है;—वह कौन सी अहिंसा? परजीव को बचाने का शुभराग होता है, वह वास्तव में अहिंसा नहीं है; किन्तु मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसे भानपूर्वक उसमें लीन रहने से रागादि की उत्पत्ति ही न हो तथा शांति की उत्पत्ति हो, वही सच्ची अहिंसा है और ऐसी वीतरागी अहिंसा, वह धर्म है, वह मंगल है।—इसप्रकार मंगलाचरण किया।

आत्मा के आनन्द की कहानी

[पद्मनंदी पंचविंशतिका-एकत्व अधिकार-व्याख्यान]

यह अध्यात्म ग्रन्थ है; यह आत्मतत्त्व का प्रकाशक है। इस देह में ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा विद्यमान है; उसका भान करके जो सर्वज्ञ हुए हैं और तीन काल-तीन लोक को प्रत्यक्ष देखा है, तथा उन सर्वज्ञ परमात्मा ने जो उपदेश दिया है—उसी पर से वीतरागी संतों ने इस शास्त्र की रचना की है। इसमें कहते हैं कि हे आत्मा! तू अनादि-अनन्त है; अपने भान बिना तूने अनंतानंत अवतार किये हैं। तेरा स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है; परिभ्रमण करना तेरा स्वभाव नहीं है। आत्मा, शरीर के प्रत्येक रजकण से पृथक् है; उसके स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्दरस भरा है;—ऐसे आत्मा की जिसे रुचि नहीं है और पुण्य-पाप की रुचि है, वह संसार में जन्म-मरण करता है। किंतु यदि एकबार भी चैतन्यरस प्रगट करके आत्मा का सम्यक् भान करे तो अज्ञान का नाश हो और जन्म-मरण का अंत हो जाये।

जैसे—चना जब कच्चा हो, तब कसैला लगता है और बोने से उगता है; किंतु उसे सेकने से उसका स्वाद मीठा लगता है और फिर वह उगता नहीं है; उसी प्रकार आत्मा में जब तक कचास अर्थात् अज्ञान है, तब तक उसे आकुलता का स्वाद आता है और वह जन्म-मरण में भटकता है। किंतु उसे रुचि में पचाकर उसका सम्यक् ज्ञान करने से आनन्द का मीठा स्वाद आता है और फिर वह संसार में जन्म-मरण नहीं करता।

आत्मा के आनन्द की कहानी सुनने के लिये स्वर्ग के देव भी तरसते हैं और उसे सुनने के लिये वे स्वर्ग से पृथ्वी पर आते हैं; तो ऐसा दुर्लभ मनुष्य भव प्राप्त करके सत्समागम से आत्मानन्द की प्राप्ति का उपाय सुनना चाहिये। आत्मा के आनन्दस्वभाव की कहानी सुनना भी दुर्लभ है और उस आनन्द की प्राप्ति करना तो महान अपूर्व वस्तु है। आनन्द कहो या धर्म कहो। धर्म करनेवाले को अपने आत्मा में से आनन्द का वेदन होता है... अन्दर से शान्ति का स्रोत बहता है।

प्रभो! तूने कभी अपने आत्मानन्द का स्वाद नहीं चखा और पुण्य-पाप के स्वाद में ही अटका है। अब हम तुझे तेरा आनन्दस्वभाव बतलाते हैं। आत्मा स्वयं चिदानन्द अमृत का कुंड है; उसमें डुबकी लगाकर आनन्द में झूलनेवाले संत कहते हैं कि अरे जीव! अपने आत्मा को समझ.... सच्ची समझ ही तेरा विश्राम है। तेरे आत्मा में सदैव आनन्द भरा है, किंतु अज्ञानदशा में

वह तुझे अव्यक्त है... अपने आनन्द को तूने कभी नहीं देखा और बाह्य में आनन्द मानकर संसार की चारों गतियों में भटक रहा है... उसमें तुझे कहीं विश्राम नहीं है। भाई! आत्मा में तो आनन्द भरा है, उसका संतों को अतीन्द्रियज्ञान द्वारा व्यक्त अनुभव होता है। इस एकत्व-अधिकार के तीसरे श्लोक में आचार्यदेव कहते हैं कि—

यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम्।
सारं यत्सर्ववस्तुनां नमस्तस्मै चिदात्मने॥३॥

अबुद्ध—अज्ञानी जीवों को जो अगोचर है, और सम्यग्ज्ञानरूप चक्षु द्वारा जो व्यक्त-गोचर होता है तथा सर्व वस्तुओं में जो सारभूत-उत्तम वस्तु है—ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मा को नमस्कार हो!

संतों को आत्मा का आनंद प्यारा है, इसलिये वे सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा को पहिचानकर उसी को नमस्कार करते हैं—उसी ओर झुकते हैं।

जो आत्मा के आनन्द को नहीं जानता और बाह्य अनुकूलता में ही सुख मानता है, वह जीव प्रतिकूलता को हटाकर सुख लेना चाहता है; इसलिये उसका अभिप्राय ऐसा है कि जगत में जितने मनुष्य मुझे प्रतिकूलता करनेवाले हैं, उन सबका संहार करके भी मैं अनुकूलता प्राप्त करूँ और सुखी होऊँ।—अब, इसलोक में तो एक खून करनेवाले को भी फाँसी दी जाती है और हजारों - लाखों के संहार का भाव करनेवाले को भी एक बार फाँसी दी जाती है। इस लोक में हजारों खून करनेवाले को हजार बार फाँसी देने की व्यवस्था नहीं है। तो विचार करो कि एक खून करनेवाले को एक बार फाँसी और हजारों खून करनेवाले को भी एक बार फाँसी;—उसमें क्या प्रकृति का न्याय है?—नहीं; हजारों मनुष्यों की हिंसा के तीव्र पापपरिणामों का फल भोगने का स्थान इस मनुष्य लोक में नहीं है; उसका फल भोगने की व्यवस्था तो नरक में की गई है। वहाँ हजारों फाँसी की अपेक्षा भी अधिक दुःख है। नरक के ऐसे भीषण दुःख जीव अनंत बार भोग चुका है; इसलिये हे आत्मा! अब तू चेत और आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप का श्रवण कर।

ज्ञानानन्दस्वरूप का यथार्थ श्रवण कब कहा जाता है? कि जब उसे लक्ष में लेकर समझे तब; समझे तभी यथार्थ श्रवण कहा जाता है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि—अरे जीव! तेरे आत्मा में आनन्द तो है, किन्तु अज्ञान के कारण वह तुझे अव्यक्त है; इसलिये यथार्थ ज्ञान करके उस आनन्द को व्यक्त कर। सर्वज्ञ भगवन्तों को जो आनन्द प्रगट हुआ, वह कहाँ से आया? भीतर आत्मशक्ति में था, उसी में से वह प्रगट हुआ है। जिसप्रकार लैंडी पीपल की शक्ति में ही चौंसठ

पुटी चरपराहट भरी है, उसी में से व्यक्त होती है; उसी प्रकार ज्ञान और आनन्द की शक्ति आत्मस्वभाव में भरी है, उसी में से व्यक्त होती है। उसके व्यक्त होने का उपाय यहाँ समझाते हैं।

भाई! अपने आत्मा के ज्ञान बिना तुझे अपने आनन्द का वेदन नहीं हो सकता। जिसप्रकार—मुर्दे को खबर नहीं होती कि मैं कौन हूँ? उसीप्रकार 'मेरा आत्मा कौन है?' उसकी जिसे खबर नहीं है, वह भी मुर्दे के समान है; शास्त्रकार उसे 'चलता-फिरता मुर्दा' कहते हैं; क्योंकि यह शरीर तो जड़ कलेवर है, और वह इसी को अपना स्वरूप मानता है, किन्तु मैं देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप हूँ—इसप्रकार अपने को नहीं जानता। भाई! तेरी आनन्दशक्ति अनादिकाल से मुँदी हुई है, अब उसका भान करके तू अपने आनन्द को व्यक्त कर।

आत्मा में आनन्दस्वभाव है; और उसकी विपरीतदशा, वह संसार है, इसके अतिरिक्त शरीर-स्त्री-मकानादि बाह्य वस्तुओं में आत्मा का संसार नहीं है; आत्मा तो अन्यत्र चला जाता है और वे सब यहीं पड़े रहते हैं। स्त्री आदि छूट गये, इसलिये आत्मा का संसार छूट गया—ऐसा नहीं है; संसार तो आत्मा की अरूपी विकारीदशा है। आत्मा के आनन्द का भान करके उसमें एकाग्र होने पर, आत्मा में से अज्ञान और रागादि टल जाते हैं; इसलिये आत्मा का संसार छूट जाता है।

हे भाई! तेरा सुख और तेरी प्रभुता तुझमें ही भरे हैं—यह बात तुझे जमती है? पहले गुरुगम से इस बात का ज्ञान कर; सत्समागम से बारम्बार इसका श्रवण मनन कर... और बारम्बार अभ्यास कर! सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रों द्वारा इस चैतन्य का आनन्द व्यक्त होता है। जिसप्रकार उलूक को सूर्य दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार आत्मा में आनन्द भरा होने पर भी अज्ञानांध जीवों को वह नहीं दिखता। जिसके सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र खुल गये हैं, वह अपने आनन्द का व्यक्तरूप से अनुभव करता है।

देखो, अनेक जीवों को पूर्व भवों का ज्ञान (जातिस्मरणज्ञान) होता है। इस देह में आने से पूर्व मैं कहा था—उसका भान करनेवाले जीव इस समय भी यहाँ हैं। मैं देह से पार ज्ञानस्वरूप हूँ—ऐसी यथार्थ समझ एक क्षण भी करे तो अनंत भव का नाश करके वह जीव अल्पकाल में परमात्मा हुए बिना न रहे। धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव, वह मोक्षमार्ग है। ज्ञानचक्षु खोलकर जिसने आत्मा को जान लिया, उसके जन्म-मरण का अन्त अल्पकाल में हो जाता है और वह मुक्ति प्राप्त करता है।

आत्मा अतीन्द्रिय है; वह आँखों से दिखाई नहीं देता। जो इन्द्रियों से दिखाई दे, वह आत्मा नहीं है और आत्मा इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता। सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रों द्वारा ही आत्मा ज्ञात होता है।

अरे, अब मैं अपने आत्मा को पहिचानकर जन्म-मरण से किसप्रकार छूटूँ ?—मेरे आत्मा को कैसे शांति हो ?—इसप्रकार अंतर से आत्मा को समझने का रस जागृत होना चाहिये। जिसे आत्मा का ऐसा रस लग गया, उसे सत्समागम से सम्यग्ज्ञान द्वारा उसका भान होता है। जो एक बार आत्मा को जान ले, उसे उसके आनन्द का स्वाद आये और फिर उसका ध्यान करते-करते वह साक्षात् परमात्मा हो जाये।

आचार्यदेव कहते हैं कि—अहो! इस जगत में सबसे सार उत्तम वस्तु हो तो यह चैतन्य - स्वरूप आत्मा ही है। जिसे जगत की महिमा छूट गई है और आत्मा की अनंत महिमा आई है, वह आत्मा को नमस्कार करता है—उसके स्वभाव की ओर ढलता है। आत्मस्वभाव को समझकर उसकी महिमा करने से उसमें लीन होने से जन्म-मरण का अंत आता है; इसलिये सत्समागम से आत्मा का सम्यग्ज्ञान करना चाहिये।

****

अमृत वचन

(१) आतमराम में रहना ही सच्चा आराम है।

(२) स्वभावोन्मुख हुए बिना सुख हराम है।

(३) भाई! एक बार अपनी चैतन्य विभूति को तो दृष्टि में ले!

(४) शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेना, वह दर्शनशुद्धि है।

(५) दर्शनशुद्धि करना ही सच्ची शुद्धि है।

(६) सर्व प्रकार के उद्यम से पहले दर्शनशुद्धि करो।

(७) 'दर्शनशुद्धि से ही आत्मसिद्धि'—यह जैन धर्म का मुद्रा लेख है।

(८) अपने आनन्दस्वभाव की बात सुनकर हे जीव! तू उल्लसित हो!

(९) जो आत्मा को समझने का इन्कार करता है, वह भवमुक्त होने से इन्कार करता है।

(१०) जो अपना हित साधने के लिये जागृत हुआ, उसे रोकनेवाला जगत में कोई नहीं है।

****

निर्विकल्प अनुभव के लिये

झूरता हुआ शिष्य

[श्री समयसार गाथा ७ के प्रवचन से]

श्री समयसार की पहली ही गाथा में आचार्यदेव ने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है कि—मैं भी सिद्ध और तू भी सिद्ध। सिद्ध भगवान के और इस आत्मा के स्वभाव में कोई अंतर नहीं है।—यह बात अपूर्व रुचिपूर्वक स्वीकार करके शिष्य को अपना आत्मा समझने की अभिलाषा हुई है और उस शुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने की जिज्ञासा से उसने प्रश्न पूछा है कि हे नाथ! ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है कि जिसका स्वरूप समझना चाहिये? हे प्रभो! जिस शुद्ध आत्मा को जाने बिना मैंने अभी तक परिभ्रमण किया, उस शुद्धात्मा का क्या स्वरूप है?—वह कृपा करके मुझे समझाइये।

ऐसे शिष्य को शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये श्री आचार्य प्रभु ने छठवीं गाथा में 'ज्ञायकभाव' का वर्णन किया है। वहाँ विकार का और पर्यायभेद का तो निषेध किया है किंतु अभी गुणभेदरूप व्यवहार के निषेध की बात वहाँ नहीं आई थी, इसलिये सातवीं गाथा के प्रारम्भ में श्री आचार्यदेव ने शिष्य के मुँह से प्रश्न कराया है कि—प्रभो! दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद से भी इस आत्मा को अशुद्धता आती है, अर्थात् 'आत्मा ज्ञान है-दर्शन है-चारित्र है' ऐसा लक्ष में लेते हुए भी भगवान शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता, किंतु मात्र विकल्प की उत्पत्ति होकर अशुद्धता का अनुभव होता है, तो उसके लिये क्या किया जाये?

देखो, शिष्य के प्रश्न में कितनी सूक्ष्मता है! किसी बाहरी बात को याद नहीं करता, शरीर की क्रिया अथवा पुण्य-पाप की बात भी नहीं पूछता; अंतर में गुण-गुणी भेद का विकल्प उठता है, वह भी उसे खटकता है, इसलिये उससे आगे बढ़कर शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करने के लिये उसे यह प्रश्न उठा है। छठवीं गाथा में श्रीगुरु के पास से महा विनय और पात्रतापूर्वक ज्ञायकस्वरूप का श्रवण करके वैसा अनुभव करने के लिये अंतर-मंथन करते-करते 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसा लक्ष में लेने लगा, किंतु उसमें गुण-गुणी भेद का विकल्प उठा। वहाँ अपनी शुद्धात्मरुचि के जोर से शिष्य ने इतना तो निर्णय कर लिया कि अभी यह जो गुणगुणी भेद का विकल्प उठता है, वह भी शुद्धात्मा के अनुभव को रोकनेवाला है; यह जो विकल्प है, वह अशुद्धता

है; इसलिये वह भी निषेध करने योग्य है। शिष्य को ज्ञान और रुचि में इतनी सूक्ष्मता तो हो गई है कि गुण-गुणी भेद के विकल्प से भी पार शुद्ध आत्मा का अनुभव है—ऐसा निर्णय करके वह गुण-गुणी भेद के विकल्प से भी पृथक् होना चाहता है; उस विकल्प से भी आगे कोई अभेद वस्तु है, उसे लक्ष में लेकर उसका अनुभव करने के लिये अंतर की गहराई में उतरता जाता है और वह बात श्रीगुरु के मुख से सुनने के लिये विनयपूर्वक पूछता है कि प्रभो! ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद से आत्मा को लक्ष में लेते हुए गुण-गुणी भेद का विकल्प उठता है और अशुद्धता का अनुभव होता है, तो क्या किया जाय?

श्री आचार्य भगवान, शिष्य की अत्यन्त निकट पात्रता देखकर उसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए सातवीं गाथा में कहते हैं कि—इस भगवान ज्ञायक एक आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र—ऐसे गुणभेद व्यवहार से ही कहे गये हैं; परमार्थ से तो भगवान आत्मा एक अभेद है। इसलिये 'एक अभेद ज्ञायक आत्मा' को लक्ष में लेकर अनुभव करने से 'मैं ज्ञान हूँ' - इत्यादि गुण-गुणी भेद के विकल्पों का भी निषेध हो जाता है और शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है।

वैराग्यमय हित वचन

१– सुख आत्मा के स्वभाव में है, संयोग में नहीं है। किन्तु अपने स्वभाव को भूला हुआ अज्ञानी जीव बाह्य में सुख मानता है।

२– अज्ञानी जीव को इस संसार सम्बन्धी जो दुःख है, वह तो वास्तविक दुःख ही है; किन्तु इन्द्रिय विषयों में वह जो सुख मानता है, वह मात्र कल्पना ही है।

३– मूढ़ प्राणी लक्ष्मी की वृद्धि को देखता है, किन्तु आयु घटती है, उसे नहीं देखता; और लक्ष्मी आदि प्राप्त करने के लिये अनमोल मानव जीवन को गँवा देता है।

४– संयोगों की अनुकूलता में अज्ञानी जीव ऐसा मूर्च्छित हो गया है कि सिर पर झूमते हुए अनंत जन्म-मरण के दुःखों को वह नहीं देखता।

५– अरे जीव! एक क्षण विचार तो कर कि संयोग बढ़ने से तेरे आत्मा में क्या बढ़ा? भाई! संयोगों के बढ़ने से आत्मा में वृद्धि मानना–वह तो मनुष्यदेह को हार जाने जैसा है।

६– हे जीव! यह संयोग तेरे ज्ञानस्वरूप आत्मा के साथ एकमेक नहीं हैं; या तो वे ही तुझे जीता छोड़कर ही चले जायेंगे, या फिर मृत्यु के समय तू उन्हें छोड़कर चला जायेगा—इसलिये उनसे भिन्नता का भान कर।

७– अंतर में संयोगों से भिन्नता का विचार कर कि—मेरा आत्मा सबसे अलग अकेला ही पैदा हुआ और अकेला ही मरेगा। संसार में भी अकेला ही भटकता है और सिद्धि भी अकेला ही प्राप्त करता है।—इसप्रकार भिन्नत्व का भान करके, हे जीव! अपने हित के उपाय का विचार कर।

८– अरे रे! मेरा आत्मा मृत्यु के मुँह में खड़ा है; मृत्यु के मुँह में पड़े हुए इस जीव को जगत में अन्य कोई शरणभूत नहीं है। अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें स्थिर रहूँ, वही मुझे मृत्यु के मुँह से छुड़ानेवाला है और वही एक शरणभूत है।

९– जिसप्रकार संयोगों की अनुकूलता में मेरा सुख नहीं है, उसीप्रकार चाहे जैसे प्रतिकूल संयोग मुझे दुःख का कारण नहीं हैं। जिसने अनुकूलता में सुख माना है, वह प्रतिकूलता में दुःखी हुए बिना नहीं रहेगा, क्योंकि उसकी वृत्ति ही संयोगों की ओर है। संयोग तो एक क्षणमात्र में बदल जायेंगे, इसलिये उनके आश्रय से आत्मा की शांति नहीं है। आत्मा का स्वभाव स्वयं सुखस्वरूप है और वह नित्य स्थायी है, इसलिये उसी के आश्रय से आत्मा का हित एवं शांति है—इसप्रकार

पहले हित का उपाय खोजकर उसका निर्णय करना चाहिये—ऐसा संतों ने हित मार्ग का उपदेश (इष्टोपदेश) दिया है।

१०- अरे, अभी तक मैंने अपना हित नहीं किया; अहित में ही व्यर्थ जीवन बिताया। अब मेरा हित कैसे हो?—उसका मुझे उपाय करना चाहिये।—इसप्रकार अंतर से हित की भावना जागृत होना चाहिये। भाई! जब मृत्यु का समय आयेगा, तब लक्ष्मी शरणरूप नहीं होगी; वैद्य-डाक्टर नहीं बचा सकेंगे; कुटुम्बीजन एक कदम भी साथ नहीं आयेंगे;—उस समय तो तुझे अपना आत्मा ही शरणभूत होगा; इसलिये आत्मा क्या वस्तु है—उसकी पहिचान और प्रीति कर! वही सुख के उपाय की शुरुआत है।

सम्यक्त्व की महिमा सूचक

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—जगत में कौन-सा कार्य करने वाले जीव विरले हैं?

उत्तर—तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानीजन विरले ही हैं; और विरले जीव ही तत्त्व का श्रवण करते हैं; विरले ही तत्त्व का ध्यान करते हैं और विरले ही तत्त्व को अंतर में धारण करते हैं।

विरला जाने तत्त्व को अरु सुनत है कोई;
विरला ध्यावे तत्त्व को, विरला धारे कोई॥

(—योगसार ६६)

प्रश्न—काहे से सिद्धि प्राप्त होती है?

उत्तर— **जो सिद्धया अरु होहिंगे हो रहे सिद्ध भगवान;**
वे आतम दर्शन थकी, इम जानो निर्भ्रान्त॥

—पूर्वकाल में जो सिद्ध हुए हैं, भविष्य में होंगे, तथा वर्तमान में होते हैं, वे सब निश्चय से

आत्मदर्शन (सम्यग्दर्शन) द्वारा ही सिद्ध होते हैं;—ऐसा नि:शंकरूप से जानो।

(–योगसार १०७)

प्रश्न—भगवान ने काहे को मुक्तिमार्ग कहा है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्राणि–मोक्षमार्ग:—अर्थात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र वह मोक्षमार्ग है। (–मोक्षशास्त्र १–१)

प्रश्न—सर्व दु:खों को मिटाने की परम औषधि क्या है ?

उत्तर—जो पुरुष कषाय के आताप से तप्त हैं; इन्द्रिय विषयरूपी रोग से मूर्छित हैं, और इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग से खेद खिन्न हैं;—उन सबके लिये सम्यक्त्व परम हितकारी औषधि है।

(—सार समुच्चय: ३८)

लक्षपूर्वक पक्ष

ज्ञानस्वरूपी आत्मा शांत निर्दोष है; उसकी दृष्टि के बिना अन्य लाख प्रकार से भी कल्याण नहीं होता।

जिससे कल्याण होता है—ऐसे अपने आत्मस्वभाव का लक्ष करके उसका पक्ष जीव ने कभी किया नहीं है.... और जिसके आश्रय से कल्याण नहीं है—ऐसे रागादि व्यवहार का पक्ष कभी छोड़ा नहीं है।

इसलिये संत कहते हैं कि—

हे भव्य! यदि तुझे अपना हित करना हो तो उस व्यवहार का पक्ष छोड़ दे... और अपने आत्मस्वभाव को लक्ष में लेकर उसका पक्ष कर.... उसके आश्रय से तेरा कल्याण होगा।

आत्मार्थी को तो यह सुनते ही अंतर में आत्मा की महिमा आ जाती है कि अहो! ऐसी चैतन्यवस्तु का अवलम्बन ही मुझे करने योग्य है... अंतर में लक्ष बँध जाये—अर्थात् ज्ञान के निर्णय में एक ही प्रकार आ जाये कि आहा! यह एक ही मेरा अवलम्बन है। जहाँ अंतरंग लक्षपूर्वक ऐसा पक्ष हो, वहाँ प्रयत्न की दिशा स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं रहती.... अर्थात् आत्मा के आश्रय से उसे अल्पकाल में सम्यग्दर्शन होता ही है। *[समयसार, गाथा ११ के प्रवचन से]*

निर्विकल्प रस का पान करो।

(समाधि शतक गाथा ३९ पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से)

भावलिंगी संत मुनि को समाधिमरण का अवसर हो... आसपास अन्य मुनि बैठे हों—उस समय उन मुनि को कदाचित् पानी पीने की किंचित् वृत्ति हो जाये और पानी माँगें कि—'पानी!'

वहाँ दूसरे मुनि उन्हें वात्सल्यभाव से संबोधते हैं कि अरे मुनि! यह क्या!! इस समय पानी की वृत्ति!! अंतर में निर्विकल्प रस का पान करो... अंतर में डुबकी लगाकर अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में से आनन्द का अमृत पियो... और इस पानी की वृत्ति छोड़ो... इस समय तो समाधि का अवसर है... अनंतबार समुद्र भर जाये इतना पानी पिया है... तथापि तृषा शांत नहीं हुई.... इसलिये उस पानी को भूल जाओ... और अंतर में चैतन्य के निर्विकल्प अमृत का पान करो....

''निर्विकल्पसमुत्पन्न ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकं अंजुलिं कृत्वा तत् पिवंति तपस्विनः॥''

तपस्वी-मुनिवर विवेकरूपी अंजलि द्वारा निर्विकल्पदशा में उत्पन्न होनेवाले ज्ञानरूपी सुधारस का पान करते हैं। हे मुनिश्रेष्ठ! तुम भी निर्विकल्प आनन्दरस का पान करके अनंतकालीन तृषा को शांत कर दो।....

—इसप्रकार जब दूसरे मुनिराज संबोधन करते हैं, तब वे मुनि भी तुरन्त पानी की वृत्ति तोड़ देते हैं... और निर्विकल्प होकर अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत का पान करते हैं....

अहो! धन्य है उस निर्विकल्प रस का पान करनेवाले वनवासी संतों को!

आराधना

किसकी आराधना करना चाहिये ?

यह चैतन्यस्वरूपी आत्मा स्वयं अनंत शक्तिशाली देव है; स्वयं ही अपना परमेश्वर है; स्वयं दर्शन-ज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण है; वही आराध्य है; इसलिये उस ओर उन्मुख होकर उसकी आराधना करना चाहिये। उसकी आराधना का फल मोक्ष है।

इस आत्मा से भिन्न परवस्तुओं का (-पंच परमेष्ठी भगवन्तों आदि का भी) आत्मा में अभाव है; वे इस आत्मा के सच्चे आराध्य कैसे हो सकते हैं ? जिसके साथ अपनी एकता न हो सके, वह अपना सच्चा आराध्य नहीं हो सकता; तथा अपनी पर्याय में जो शुभ-अशुभ रागादि भाव होते हैं, वे तो स्वयं अपराधरूप हैं—विराधकभाव हैं; तो उनकी आराधना किसलिये करना होगी ? इसलिये परवस्तु अथवा विकार, वह आत्मा का आराध्य नहीं है; किंतु पर से भिन्न तथा विकार से रहित—ऐसा जो अपना अचिंत्य चैतन्यशक्ति सम्पन्न स्वभाव है, वही आराध्य है; उसी की आराधना से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो ऐसे आत्मस्वभाव की आराधना करते हैं, वे ही आराधक हैं, और जो नहीं करते, वे विराधक है। [—प्रवचन से]

ज्ञान-वैराग्य का सिंचन

* हे जीव! तुझे कहीं न रुचता हो तो अपना उपयोग बदल दे और आत्मा में रुचि लगा! आत्मा में रुचे ऐसा है.... आत्मा में आनन्द भरा है, इसलिये वहाँ अवश्य रुचेगा.... इसलिये आत्मा में रुचि लगा। जगत में कहीं भी रुचे, ऐसा नहीं है किन्तु एक आत्मा में अवश्य रुच सकता है; इसलिये तू आत्मा में रुचि लगा।
* अहो! इस अशरण संसार में जन्म के साथ मरण लगा ही है... आत्मा सिद्धि न हो तब तक जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहेगा। ऐसे अशरण संसार में देव-गुरु-धर्म की ही शरण है। पूज्य गुरुदेव के बतलाये हुए चैतन्य शरण को लक्षगत करके आत्मा में उसके दृढ़ संस्कार डाल लेना—यही जीवन में करने योग्य है।
* ''अंतर में गहराई से जो आत्मा अपना हित साधने के लिये जागृत हुआ, और जिसे आत्मा की सच्ची लगन लगी—उसकी आत्मलगन ही उसका मार्ग बना देगी। आत्मा की सच्ची लगन लगे और अंतर में मार्ग न निकले—ऐसा नहीं हो सकता.... आत्मा की लगन लगना चाहिये... उसके पीछे पड़ना चाहिये.... आत्मा को ध्येयरूप रखकर दिन-रात सतत प्रयत्न करना चाहिये.... 'मेरा हित कैसे हो'.... 'मैं आत्मा को कैसे पहिचानूँ!' ....इसप्रकार लगन बढ़ाकर प्रयत्न करे तो मार्ग अवश्य हाथ आयेगा।''
* जिन्होंने आत्मा का सुख प्राप्त कर लिया, उन ज्ञानियों को फिर ऐसा लगता है कि अहो! जगत में सर्व जीव ऐसा सुख प्राप्त करें.... आत्मा का ऐसा सुख सबको प्राप्त हो.... सब हम जैसे सुखी हों...
* ज्ञानी की परिणति सहज होती है... प्रसंग-प्रसंग पर उसे भेदज्ञान का स्मरण करके सोचना नहीं पड़ता.... किन्तु उसे तो ऐसा सहज परिणमन ही हो गया है... आत्मा में एक-सा परिणमन सतत वर्तता ही रहता है।

[—भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर पूज्य बहिन श्री बहिन के उद्गार]

संक्षिप्त प्रश्न.... संक्षिप्त उत्तर

प्रश्न—कान होने पर भी बहरा कौन है ?

उत्तर—जो आत्मस्वरूप की कथा न सुने।

प्रश्न—आँखें होने पर भी अंधा कौन है ?

उत्तर—जो जिनेन्द्रदेव के दर्शन न करे।

प्रश्न—जिह्वा होने पर भी गूंगा कौन है ?

उत्तर—जो जिनेन्द्रदेव का स्तवन न करे।

प्रश्न—धन होने पर भी दरिद्री कौन है ?

उत्तर—जो दान न करे।

प्रश्न—मन होने पर भी असंज्ञी कौन है ?

उत्तर—जो चैतन्य का चिंतवन न करे।

प्रश्न—आलसी कौन है ?

उत्तर—जो तीर्थ यात्रा न करे।

प्रश्न—बहादुर-सुभट कौन है ?

उत्तर—जो मोहमल्ल को जीत ले।

प्रश्न—निर्धन होने पर भी धनवान कौन है ?

उत्तर—जो रत्नत्रयरूपी धन को धारण करे।

प्रश्न—घातक होने पर भी अहिंसक कौन है ?

उत्तर—जो मोह शत्रु का घात करे।

प्रश्न—शास्त्राभ्यास करने पर भी मूर्ख कौन है ?

उत्तर—जो चैतन्य तत्त्व को न जाने।

प्रश्न—विद्वान कौन है ?

उत्तर—जो आत्मविद्या जानता है।

प्रश्न—मनुष्य होने पर भी पशु कौन है ?

उत्तर—जो स्व-पर का विवेक न करे।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन	१॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समयसार पद्यानुवाद	।)
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
आत्मावलोकन	१)	स्तोत्रत्रयी	॥)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१।=)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
द्वितीय भाग	२)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७-८-१० वर्ष	३।।।)
द्वितीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

हिन्दी आत्मधर्म की फाइलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७,, ८, १० यह आठ फाइलें एक साथ
लेने वालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।